IR
Integral Research
(ISSN: 3048-5991) Coden: IRABCA

Research Article
(Peer-reviewed, Open Access & Indexed Multidisciplinary Journal)
Journal home page: https://integralresearch.in/
Vol. 03, No. 07, July. 2026

ग्रामीण भारत में मानव अधिकार एवं सामाजिक न्याय

डॉ. राजीव चौधरी

गेस्ट असिसटेन्ट, प्रोफेसर पी.जी. सेन्टर फोर राजनीति विज्ञान विभाग, जगजीवन महाविद्यालय गया जी, एम यू बोधगया (बिहार)
DOI: **https://doi.org/10.57067/ir.v3.i7.629**

सारांश

यह शोधपत्र न्याय की अवधारणा, उसके दार्शनिक आधार तथा समाज और राज्य के साथ उसके अंतर्संबंधों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें प्राचीन यूनानी दार्शनिकों—सुकरात, प्लेटो, अरस्तू तथा अन्य चिंतकों—के न्याय संबंधी विचारों का विश्लेषण करते हुए भारतीय परिप्रेक्ष्य में न्याय की परंपरा और उसके सामाजिक स्वरूप का विवेचन किया गया है। अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि न्याय केवल विधिक प्रक्रिया या न्यायालयों के निर्णय तक सीमित नहीं है, बल्कि यह नैतिकता, समानता, मानवीय गरिमा तथा सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़ी व्यापक अवधारणा है। शोध में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि जब न्याय व्यवस्था पारदर्शिता, निष्पक्षता और मानवीय मूल्यों से संचालित होती है, तभी समाज में विश्वास, शांति और समावेशी विकास सुनिश्चित होता है। इसके विपरीत, सत्ता-केंद्रित एवं पक्षपातपूर्ण न्याय व्यवस्था सामाजिक असमानताओं और असंतोष को जन्म देती है। लेख में न्याय, धर्म, राज्य और नागरिक अधिकारों के परस्पर संबंधों का विश्लेषण करते हुए आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में न्याय की प्रासंगिकता को रेखांकित किया गया है। निष्कर्षतः यह कहा गया है कि न्याय का वास्तविक स्वरूप विधिक औपचारिकताओं से आगे बढ़कर मानव-केंद्रित, समानतामूलक और नैतिक समाज की स्थापना में निहित है, जो लोकतांत्रिक मूल्यों तथा सामाजिक समरसता को सुदृढ़ करने का आधार बनता है।

कुंजी शब्द: *न्याय, सुकरात, प्लेटो, सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक मूल्य.*

परिचयः—

सबसे पहले न्याय पर प्रतिक्रिया केफलस की ओर से आया है उन्होंने ँज पे श्रनेजपबम न्याय क्या है, की संज्ञा को फोकस किया है वह (विदेषी) हैं, और उनका विचार परंपरागत रूप में उभरकर आया है, उनके अनुसार न्याय का अर्थ है — 'अपने कथन और कर्म में सच्चा रहना तथा मनुष्यों एवं देवताओं के प्रति ऋण चुकाना', लेकिन यहाँ पर सुकरात इस परिभाषा से संतुष्ट नहीं होते हैं, उनके अनुसार सत्य सापेक्षिक होता है, यानि एक व्यक्ति के लिए जो सत्य है, वह आवष्यक नहीं है कि दूसरे व्यक्ति की परिस्थितियों में भी ठीक वैसा ही सत्य स्वीकार्य हो, इसलिए केफलस के अवधारणा की आलोचना वह यह कहकर करते हैं कि विषेष परिस्थितियों सत्य और समुचित व्यवहार को न्याय माना जा सकता है। परंतु उसे सार्वभौमिक सत्य के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है। सुकरात कहता है कि अगर आपके दोस्त किसी की हथियार से हत्या कर देता है तो क्या वह न्याय है? वह हथियार वापस दे देता है उसे न्याय नहीं माना जा सकता है।

पोलीमार्क — के कथनानुसार भी उससे प्रभावित है, कि परम जिज्ञासु सुकरात उसके तर्क से आष्वस्त नहीं है, यदि नैतिकता की दृष्टि से सभी मनुष्य बराबर है, तो समान परिस्थितियों में उनके साथ एक जैसा व्यवहार करना ही न्यायिक उत्कृष्टता की कसौटी है, यदि दो व्यक्ति समान अपराध में लिप्त हों तथा उनमें से एक शासक का मित्र तथा दूसरा उसका शत्रु हो तो दोनों के अपराध का दंड क्या अलग—अलग होना चाहिए?

न्याय को यदि अच्छाई और बुराई से अभिव्यक्त होने वाला गुण मान लिया जाये तो कोई भी व्यक्ति उसका मनमाना उपयोग करने को स्वतंत्र हो जायेगा। परन्तु वास्तविक मित्र और शत्रु की पहचान करना उतना ही कठिन है। मनुष्य का व्यवहार बदलता रहता है। कुछ मनुष्य इतने तेज—तर्रार होते

Received **10 July 2026**; Accepted **27 July 2026**. Available online: **30 July 2026**. Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension) This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License

Integral Research
(ISSN: 3048-5991) Coden: IRABCA
Research Article
(Peer-reviewed, Open Access & Indexed Multidisciplinary Journal)
Journal home page: https://integralresearch.in/
Vol. 03, No. 07, July. 2026

हैं कि उनके व्यवहार से पता ही नहीं चलता कि वे मित्र हैं या शत्रु?

'रिपब्लिक' को पढ़ते हुये कभी–कभी ऐसा लगता है कि उसके पात्र प्लेटो की कल्पना की ऊपज है। उनकी भूमिका किसी न किसी विचार के पक्ष–विपक्ष को आगे बढ़ाने तक सीमित है, पेरियांडर ने कोरिंथ पर ईसापूर्व 625 से 585 ई0पूर्व तक शासन किया था। आरंभ में उसका शासन बहुत दयालुतापूर्ण था, लेकिन बाद मे वह दमन का रास्ता अपनाने लगा था।

सुकरात और प्लेटो के आगमन से पहले सोफिस्ट ही थे, जिनसे ग्रीक संस्कृति का बोध होता था। वे अपनी विचारधारा और तर्क–सामर्थ्य के आधार पर जाने जाते थे, तर्क नैपुण्य उनके लिए इतना महत्वपूर्ण था कि आगे चलकर उन्होंने उसी को अपना व्यवसाय बना लिया था। यूनानी समाज में उनकी हैसियत ठीक ऐसी ही थी जैसी भारत में पुरोहित वर्ग की 'थ्रेचाइमस' के विचार 'सत्ता–सर्वेसर्वा' का प्रतिनिधित्व करते हैं, बहस में उतरने के पश्चात वह दावा करता है कि शक्तिषाली की हित–सिद्धि ही न्याय है। उसके अनुसार 'सबल सर्वदा' सही होता है', 'राजा जो करे वही न्याय है' – ऐसी मान्यता भारत में भी रही है, तुलसी ने लिखा है, 'समरथ को नहिं दोष गुसाई, 'इसी से शायद यह कहावत भी बनी है' – 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', 'अपने मंतव्य को स्पष्ट करता हुआ थ्रेचाइमस कहता है – कि 'विभिन्न प्रकार के राजदर्षनों तथा जनतंत्रात्मक, निंरकुष, कुलीनतंत्री आदि के आधार पर गठित सरकारें इस प्रकार के कानून बनाती है, जिनके द्वारा उनकी अपनी स्वार्थ–सिद्धि होती है। निहित स्वार्थ के लिए बनाए गये कानूनों को ही वे न्याय की संज्ञा देती है और चाहती है कि लोग बिना कोई प्रष्न उठाये उनका पालन करें, इसलिए यह कहा जा सकता है कि न्याय सर्वत्र एक ही है, वह है– शासक वर्ग का हित और शक्तिषाली का स्वार्थ।

थ्रेचाइमचस, ने माना कि 'षक्तिषाली सदा सही' कहना अनुभव– सिद्ध निर्णय था, जिस दौर में सोफिस्ट विचारधारा पनपी थी उसी दौर में शासकों के लिए शक्ति ही सबकुछ थी, प्राचीन सभी सभ्यताओं में लगभग वही स्थिति थी, भारत में इसे धर्म कहा गया है, और धर्म के नाम पर सत्ता के प्रत्येक धूतकर्म को श्रेय के कोटी में रख दिया जाता था, राम जब शंबूक को मृत्युदंड देता है, निर्दोष पत्नी को बनवास की सजा सुनाता है अथवा बालि की छिपकर हत्या करता है, तो तत्कालीन विधान उसे दोष नहीं देता, उल्टे उसका महिमा–मंथन करता है।

सुकरात की अवधारणा न्याय के प्रति तीन कसौटीओं को माना है– 'कौन सा कार्य बुद्धिमतापूर्ण है?' 'सबसे सुरक्षित रास्ता क्या है? तथा 'जीवन में शुभत्व की स्थापना किस प्रकार संभव है? 'सूकरात के लिए इसमें तीसरा सर्वाधित महत्वपूण है।

प्लेटो ने जहाँ दार्षनिक सम्राट की परिकल्पना की थी, नीष्षे ने महामानव की परिकल्पना की, जो प्लेटो के दर्षनिक सम्राट जैसा ही सर्वगुणसंपन्न, विराट व्यक्ति का स्वामी है, अपनी पुस्तक जेम हमदमंसवहल वि उवतंसे में वह 'दास नैतिकता' और 'स्वामी नैतिकता' की बात करता है, उसके अनुसार स्वामी के नैतिक मूल्य शक्ति, सदाचारण, सज्जनता, अच्छे और बुरे को परखने की दृष्टि से देखे जा सकते हैं, जो दास की नैतिकता 'समपर्ण' 'दयालुता' मनावता, करूणा और संवेदना से परखी जा सकती है।

सुकरात के अनुसार केलीकिल्स न्याय की मूल–भावना को पकड़ने में असमर्थ है, केवल शक्ति को न्याय का पर्याय बताकर वह अन्याय का पक्ष लेने की गलती कर जाता है, परंतु यह नहीं जान पाते कि 'न्याय वास्तव में क्या है? (आखरमाला 14 मार्च 2017)1

जॉन रॉल्स के शब्दों में – न्याय मूल भावना ही मनुष्य के साथ प्रेम संबंधों का नैरन्तय है, न्याय बहुत ही खूबसूरत शब्द है और साथ–साथ सम्मानित भी, पर वह परंपरा में वह शब्दों का 'अभिजन' के रूप में भी है, इसीलिए जो व्यक्ति ईमानदार और न्यायकर्ता है, जिसके पास न्याय करने का अधिकर है। किसी भी दबाव में विषेषकर सत्ता के दबावों से जो मुक्त है, 'दूध को दूध और पानी को पानी' सिद्ध करने की कला जिसे आती है– उसे जनसाधारण उसी की ओर उम्मीद–भरी निगाह से देखता है। आवष्यकता पड़ने पर वह अपने जीवन में ऐसे ही न्याय की कामना करता है। किसी भी समाज में न्याय का स्तर उस समाज में मानवीय अधिकारों की पहुंच का भी संकेत होता है। परंपरागत समाजों

Received 10 July 2026; Accepted 27 July 2026. Available online: 30 July. Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License

Integral Research
(ISSN: 3048-5991) Coden: IRABCA
Research Article
(Peer-reviewed, Open Access & Indexed Multidisciplinary Journal)
Journal home page: https://integralresearch.in/
Vol. 03, No. 07, July. 2026

में मनुष्य का अधिकारबोध, सामूहिकता का दायर परिवार, बस्ती, जाति–समूह, पंचायत, ग्राम वगैरह कुछ भी हो सकता था। जबकि बादषाह, काजी, अदालत, यमराज या किसी दयालु सम्राट के परंपरागत न्याय–बोध से परे है। जबकि पहले किस्से में न्याय का लोक–प्रचलित रूप है। न्याय के प्रति सामान्य धारण इसी प्रकार की होती है। राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक के अधिकारों की रक्षा करे।

धर्म– केंद्रित समाजों की आवधारणा जो प्रचलित थी वह केवल परमात्मा की कृपा और उसका डर मनुष्य को धर्म की ओर प्रवृत्त कर सकता है। इसलिए कुछ धर्म के साथ कुछ न कुछ सिद्ध–निषिद्ध जुड़े होते हैं, मानव से अपेक्षा की जाती है कि जो सामाजिक रूप से मान्य है, उसका पालन करें तथा जिन कार्यों को निषिद्ध घोषित किया गया है – उनसे अपेक्षित दूरी बनाये रखें। भारतीय राजाओं ने देष में जितनी बड़ी संख्या में मंदिर बनवायें, उसका दसवां हिस्सा भी यदि विद्यालय बनवाएं होते तो समाज की हालत दूसरी होती, उन्होंने षिक्षा की जिम्मेदारी उस वर्ग को सौंपी हुई थी, जिसके वर्गीय स्वार्थ प्रबल थे। यही कारण है कि षिक्षा भारत में सदा ही धर्म का पूरक संस्कार बनी रही । उसके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण कभी भी पनप नहीं सका। इसके बावजूद भी प्राचीन समाजों में जन विद्रोह की घटनाएं विरल है। अभी तक के सामाजिक विष्लेष्ण से न्याय की दो प्रवृतियां उभरती है। अदालतों में वकील, जज, आदि के माध्यम से होने वाला न्याय, दूसरे अपने नागरिकों, के प्रति राज्य के कर्तव्य के रूप में निरूपायित न्याय, भारतीय धर्मग्रथों में न्याय के प्रथम रूप पर पर्याप्त चर्चा है। ब्राहम्ण ग्रंथों, स्मृतियों और धर्मसूत्रों में इस पर खुलकर विचार किया गया है। उसे राज्य का कर्तव्य बताया गया है परंतु न्याय के दूसरे पक्ष जो नागरिक समाज के प्रति राज्य के दायित्व को दर्षाता है, को लेकर भारतीय बाड्.गम्य में गहरी चुप्पी पसरी है, अर्थ–षास्त्र में राजा के समान लोकहित का बड़ा आर्दष रखा गया है। जोर देकर कहा गया है – प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजाहित में राजा का हित सन्निहित है।

'विष्णु धर्मसूत्र' में भी इस धारणा को विस्तार दिया गया है, तदनुसार जो राजा प्रजा के सुख में सुखी उसके दुख में दुखी हो जाता है, उसे संसार में अपना कृर्ति बनाऐ रखने के लिए यज्ञ और तपादि की आवश्यकता नहीं है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी का समय पूरी दुनिया में बौद्धिक क्रांति का था, जिसमें विश्वास को तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा था। भारत में इसका सूत्रधार थे गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी तथा यूनान में सुकरात, प्लेटो, जेनोफीन, डेमीक्रिटिस आदि। न्याय पर एक प्रसिद्ध ग्रीक कहावत है कि 'मनुष्य अपने लिए न्याय का दरवाजा स्वयं खोलता है, लेकिन दूसरे शब्दों में 'न्याय ही न्याय को कमाता है' कदाचित इसीलिए सुकरात ने कहा था, 'न्याय समाज का सदगुण है। एनेकिसमेंडर भी न्याय को व्यवहार की श्रेष्ठता के रूप में देखता था। उसके अनुसार मनुष्य का कर्त्तव्य है–'परस्पर न्याय–भावना के साथ पेश आना और एक–दूसरे के अन्याय को भूलते चले जाना कहा है। यूनान में उस समय दासों का अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने पर योगदान था। सुकरात के समय एथेंस की कुल जनसंख्या लगभग तीन लाख थी, उसमें से 125000 दास तथा लगभग 2500 कृषिदास अथवा अर्धदास थे, कृषिदास मुख्यतः कृष्टभूमि से जुड़े किसान थे, भू–अधिकार में परिवर्त्तन के साथ ही उनका स्वामित्व भी नए भू–स्वामी के हाथों में अंतरित हो जाता था, दासों में छोटे शिल्पकार और कारीगर भी आते थे। एथेंस और रोम की संपन्न्ता का सारा दारोमदार उन्हीं के कधों पर था। इसलिए दर्शन के क्षेत्र में शुभत्व और सदगुण की मांग करने वाले सुकरात, प्लेटो और अरस्तु जैसे विचारक भी दास प्रथा के समर्थक थे। एनेकिसमेंडर के लिए न्याय का सामान्य अर्थ था–व्यक्ति के संपत्ति–अधिकारों की सुरक्षा, उन दिनों यूनानी देशों की परंपरा थी कि यदि किसी कुलीन परिवार की स्त्री का पति मर जाता था, तो उसकी संपत्ति राज्य के अधीन मान ली जाती थी। इस कानून के विरोध में स्त्रियाँ मोर्चा निकाल चुकी थी। एनेकिसमेंडर जैसे कुछ विचारक कुलीन परिवार की विधवाओं को संपत्ति में अधिकारी देने के पक्ष में थे, दूसरे की संपत्ति पर अधिकार को अनैतिक माना जाने लगा था।

हेराकलाइटस (535–475 ईस्वी पूर्व) में न्याय को उसके सामान्य अर्थों से बढ़कर मानता था। उसका मानना था कि न्याय ब्राह्मण्ड का सर्वाधिक क्रियाशील तत्व हे। पैरामेनीडिस ने न्याय को समाज के लिए उत्प्रेरक शक्ति के

Received 10 July 2026; Accepted 27 July 2026. Available online: 30 July. Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License

Integral Research
(ISSN: 3048-5991) Coden: IRABCA
Research Article
(Peer-reviewed, Open Access & Indexed Multidisciplinary Journal)
Journal home page: https://integralresearch.in/
Vol. 03, No. 07, July. 2026

रूप में देखता था। न्याय–केंद्रित समाजों में मनुष्य को यह विश्वास होता है कि समाज में रहते हुए उसके हित सुरक्षित है और आवश्यकता पड़ने पर पुरा मानव समाज उसके साथ होगा उसने न्याय को समाज की प्रमुख मार्गदर्शक शक्ति माना है। आगे उन्होंने एक प्रेरणादायिक कविता में कहते हैं कि सुनो! बुराई तुम्हें आगे नहीं ले जाएगी। इस रास्ते पर मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकने के लिए बाधाएँ अनेक है, केवल न्याय और कानून ही तुम्हें राह दिखा सकता है।

एनेक्सिमेंडर, हेराकलाटस, पेरामनिडस आदि। जितने भी सुकरात पूर्व तथा उसके समकालीन यूनानी चिंतक हैं, सभी ने न्याय को अपनी–अपनी तरह से परिभाषित करने की कोशिश की थी। परन्तु सुकरात पूर्व के सभी विचारकों ने न्याय को ईश्वर के संदर्भ में देख रहे थे। उसके लिए न्याय या तो ईश्वर का उपहार था अथवा दैवीय विधान, जिसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप अवांछनीय है और भारत में चिंतक न्याय को धर्म के उपांग या उपहार के रूप में देखते थे। जहाँ तक पश्चिम को देखे तो वह भी न्याय ईश्वरीय प्रेरणा या उपहार तक सीमित था। जिसमें न्याय का परिवर्तन सुकरात के आगमन से माना जाता है। क्योंकि न्याय को सामाजिक नैतिकता का विषय बना दिया था और भारत में व्यवहारिक नैतिकता पर जोर देने का काम सुकरात से थोड़ा पहले वुद्ध ने किया था। बुद्ध की न्याय–संबंधी अवधारणा व्यक्त्वि एवं सामाजिक हितों से मिलकर बनी थी। यानी हर व्यक्ति खुश रहना चाहता है। यह मनुष्य की सामान्य प्रवृत्ति है यह बुद्ध का कथन था।

प्लेटो का न्याय–दर्शनः–

प्लेटो के विपुल लेखन को देखते हुए विद्वानो की यह धारणा रही है कि जो प्लेटो के दर्शन में नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। न्याय के बारे में सबसे पहले और विशद विवरण प्लेटो के दर्शन में प्राप्त होता है। न्याय को पर्यायवाची के रूप में उसने ग्रीक भाषा के शब्द 'दिकायसने' (क्पांपेलदम) का प्रयोग किया गया है। जिसका अभिप्राय है। 'नैतिकता' अथवा 'न्याय परायणता' से है। ग्रीक साहित्य में 'दाइक' मिथकीय कल्पना है, जिसे 'न्याय' की 'देवी' कहा जाता रहा है। परन्तु प्लेटो का 'दिकायसने' मिथकीय न होकर न्याय को समर्पित राज्य की आदर्श व्यवस्था है। वह न्याय को मनुष्य की सम्पूर्ण कर्त्तव्यपरायणता के रूप में देखता है। प्राचीन यूनानी विधिशास्त्र में दर्प को कुचल डालने की अनुशंसा की गई है। यह माना गया है कि दूसरे को श्रेष्ठता का दर्प मनुष्य को कर्त्तव्य से विमुख होने तथा उनके कार्य में बाधा खड़ी करने के लिए उकसाता है। प्लेटो की 'न्याय' संबधी अवधारणा इसी यूनानी चेतना से बनी थी। उसके लिए न्याय का मतलब था। 'सामाजिक आदर्श का बोध तथा कर्त्तव्यपरायणता। वह मानता था कि आदर्श राज्य की परिकल्पना को साकार करने के लिए आंतरिक शुभता अपरिहार्य है, वर्चस्व की चुनौती का सारा तमाशा आधी–अधूरी गणतांत्रिक प्रक्रिया के माध्यम से न्याय के नाम पर हुआ था। यहीं से प्लेटो के मन में सवाल उठा था कि 'न्याय क्या है?' क्या जिसे बहुत से लोग मान ले वह न्याय है, अथवा जिसे राज्य अपनी शक्ति के बल पर लागू करे, वह न्याय है। इस समस्या को वह सुकरात के माध्यम से 'रिपल्पिक' में उठाता है, अपने स्वभाव के अनुरूप सुकरात अपनी शिष्य–मंडली के बीच प्रश्न उठाता है। चर्चा के पहले चरण में सुकरात के अलावा केफलस, पोलीमार्क, थ्रेचाईमचस, लीसियस और केल्सीडॉन प्रमुख सहभागी बनते हैं। कवि पिंडोरियास को उद्धृत करता है, जिसका आशय है– 'जब कोई मनुष्य अपना जीवन न्याय एवं श्रद्धा के साथ व्यतीय करता है तो उसके जीवन को आहलादित करने तथा वृद्धावस्था में उसको सहारा देने के लिए 'आशा' जीवन–संगिनी की भांति सदैव उसके साथ रहना चाहती है। इसपर परम जिज्ञासु सुकरात प्रश्न करता है– क्या यही न्याय है? सुकरात का यही कौतुहल 'रिपब्लिक' की चर्चा का केन्द्रिय विषय बन जाता है। उससे पहले तक न्याय को व्यक्ति और राज्य के व्यवहार और अंतर्संबंधों के अनुसार देखने की प्रथा थी, जिसमें राज्य की इच्छा और उसका अधिकार पक्ष प्रबल रहता था। (आखरमाल 14 मार्च 2017)2

न्याय, न्याय की परंपरा और समाजः–

राज्य के नेतृत्व में अदालतों के जरिये सामान्यतः जो फैसले होते हैं, प्रायः उन्हीं को न्याय मान लिया जाता है। जबकि उनमें से कुछ को छोड़कर जिनका संबंध संविधान, कानून

Received **10 July 2026**; Accepted **27 July 2026**. Available online: **30 July**. Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License

Integral Research
(ISSN: 3048-5991) Coden: IRABCA
Research Article
(Peer-reviewed, Open Access & Indexed Multidisciplinary Journal)
Journal home page: https://integralresearch.in/
Vol. 03, No. 07, July. 2026

या किसी अदालती निर्णय को लोकहित में समीक्षा करना है, अधिकांष का न्याय की मूल–भावना से दूर का भी संबंध नहीं होता, अधिकतर मामले वकीलों के दमसम तथा कानूनी दाव पेंच में उलझे होते है, उनके अंबार के बीच में न्याय और न्याय की भावना कहीं दब सी जाती है। कानून अपना काम करे, लोगों का न्याय समय पर मिले, न्याय प्रणाली निष्पक्ष तथा उसकी प्रक्रिया पूर्णतः पारदर्षी हो – यह देखना राज्य का कर्तव्य भले हो, उसके गठन का वास्तविक लक्ष्य नहीं है। राज्य का गठन प्रबुद्ध नागरिकों द्वारा अपने सुख, शांति, समृद्धि एवं सुभता के विस्तार हेतु किया जाता हैं अपने नागरिकों की जान–माल की रक्षा करना राज्य का दायित्व है। इस दायित्वपूर्ति हेतु कानून राज्य के सहायक की भूमिका निभाता हैं तदनुसार किसी अदालती निर्णय को न्याय तभी कहा जा सकता है, जब पीड़ित को हुये नुकसान की भरपाई संभव हो, इसके बावजूद इसके अधिकांष अदालती मामले इन्ही मुद्दे पर केंद्रित होते है। उनमे अदालतें अपराधी को केवल दंड सुनाती है, न्याय नहीं करती, मान लिजिए किसी घर में चोरी होती है, चोर पकड़ा जाता है, किंतु माल बरामद नहीं होता है, चोरी होने तथा चोर के गिरफ्तार होने के मध्य जो अंतराल है, उसमें चोर माल को ठिकाने लगा चुका है। अदालत उस चोर को कानून के अनुसार दंड सुनाकर न्याय–प्रक्रिया को संपन्न मान लेती है, ठीक उसी प्रकार यदि किसी परिवार का सदस्य की हत्या हो, हत्यारा पकड़ा जाये तो अदालत अपराधी को कारागृह में भेजकर अथवा मृत्युदंड सुनाकर अपने कर्तव्य को इतिश्री कर लेती है। दोनों मामलो में पीड़ित परिवारों को सिवाय इस तसल्ली के कि जिन्होंने अपराध किया, वे कारावास में है, कुछ भी प्राप्ति नहीं होती मृत्यु को वापस लाना तो वैसे भी संभव नहीं होता, इस तरह कानून की मदद से किया गया न्याय, सामान्यतः निषेधात्मक होता है। इससे न्याय का उद्देष्य पूरा नहीं होता, वास्तविक न्याय तब कहा जा सकता था, जब राज्य व्यक्ति को हुये नुकसान की भरपाई या तो संभव करे अथवा अपराधी उसके लिए बाध्य करे, परंतु ऐसा हो नहीं पाता नुकसान की भरपाई करने लगे तो पीड़ित व्यक्ति अपने नुकसान की भरपाई के लिए दबाव डालना भी उसे अव्यावहारिक लगता है, साफ है कि अदालत अपने ही देषवासियों पर अविष्वास करती है, दूसरे शब्दों में राज्य के संरक्षण में चलाई जा रही अदालतें प्रथमतः राज्य का हित साधन करती है।

लोक–व्यवहार और अदालती कामकाज में 'न्याय' शब्द का उल्लेख जमकर किया जाता है, न्याय की सैद्धांतिक जानकारी के अभाव में सामान्य 'दण्डाधिकारी' से भी 'न्याय–विद्ध', 'न्यायमूर्ति' जैसे लुभावने संबोधन जोड़ दिए जाते हैं, जिसमें यह वर्चस्वकारी सत्ताओं के सेल को आसान बनाते हैं, न्याय राज्य की सार्वभौमिक उदारता की कसौटी होता है, कल्याण राज्य होने का दावा करने वाले राज्य में तो उसकी हैसियत मुख्य दिषा–निर्देषक की होनी चाहिए, उसकी व्यक्ति कर्तव्य विभाजन से लेकर नागरिकों के बीच कल्याण के बंटवारे तक, अथवा–आवष्यक रूप में होनी चाहिए। प्लेटो इसी को लेकर 'रिपब्लिक' में लिखा है–

'समाज के प्रत्येक सदस्य को वह कार्य सौंपना चाहिए, जिसके लिए वह स्वंय को सर्वाधिक उपयुक्त मानता है'। इस कोटि की न्याय–भावना के अभाव में राज्य अपने नागरिकों के साथ छल करता है, 'न्याय की अनुपस्थिति में राज्य की स्वंय–प्रभुता को संगठित डकैती' बताते समय संत अगस्ताइन के मन में भी कुछ इसी प्रकार के विचार उमड़े होंगें, न्याय–विहिन समाज में असंतोष पनपते है। परिणाम स्वरूप उसके प्रति नागरिकों का विष्वास धीरे–धीरे क्षीण होता जाता है। परिणामस्वरूप जनसाधारण के लिए न्याय निरंतर दुर्लभ होता जाता है।

न्याय व्यक्ति मात्र के प्रति संवेदना, करूणा एवं समानता की भावना से जन्मता है। वही समाज सुभत्व की स्थापना करता है। आधुनिक संदर्भो में वह पष्चिम में किसी एक महत्वपूर्ण नैतिक एवं राजनीतिक संकल्पना है, न्याय के अंग्रेजी पर्याय श्रनेजपबम शब्द की उत्पति लैटिन मूल के श्रने शब्द से हुई है जिसका अभिप्राय 'विधि अथवा 'सन्मार्ग' से है, ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार श्रनेज शब्द का आषय ऐसे व्यक्ति से है जो नैतिकता के उच्च मानदंड के अनुसार सही है, तथा दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करता है, जो नैतिकता की दृष्टि से खरा और प्रभावी है, प्रकारांतर में श्रनेज शब्द से भी उसी धारणा की ओर संकेत मिलता है। कुल मिलाकर श्रने तथा श्रनेजपबम दोनो न्याय और न्याय–भावना को दर्षाते हैं, इसके मायने केवल कानून और अदालतों तक

Received 10 July 2026; Accepted 27 July 2026. Available online: 30 July. Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License

Integral Research
(ISSN: 3048-5991) Coden: IRABCA
Research Article
(Peer-reviewed, Open Access & Indexed Multidisciplinary Journal)
Journal home page: https://integralresearch.in/
Vol. 03, No. 07, July. 2026

सीमित नहीं है, बल्कि उससे कहीं ज्यादा व्यापक मनुष्यता के षिखर की ओर इषारा करने वाले हैं, न्याय मानवीक–करण की सफलता को दर्षाता है। कभी–कभी थ्पत शब्द को भी न्याय के पयार्यवाची के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, इनका अभिप्राय है 'प्रत्येक को वह मिले जो उसका अधिकार है', 'उतना मिले जितनी उसको आवष्यकता है', 'जिसको जो मिले, पूरी पारदर्षिता के साथ मिले, ईमानदारी से मिले और अविलंब मिले', श्रेष्ठ न्याय समाज के विक्षोभो का शमन करता है। समाज और व्यक्ति की दूरी घटना तथा कानून के प्रति नागरिकों के भरोसे में वृद्धि करता है। निस्पक्षता और पारदर्षिता न्याय की अनिवार्य शर्ते हैं, बतौर निष्पक्षता न्याय हमें वह देता है, जो हम उससे चाहते हैं। न्याय में विलंब भी अन्याय को दर्षाता है। भारत में धर्म से इतर न्याय के कोई स्वतंत्र अवधारणा नहीं है, यह न्याय के पर्याय के रूप में धर्म को रखा गया है, जिसकी हालत काठ के उस जूते की भांति है जिसमें हर कोई पांव डालकर देखना चाहता है, देखता है, लेकिन पूरी तरह से पहनना कोई नहीं चाहता, न ही पहन पाता है, पष्चिम में न्याय पर सुकरात से लेकर जॉन राडल तक गंभीर चिंतन देखने को मिलता है, प्लेटो की महत्वपूर्ण कृति 'रिपब्लिक' में साथियों के साथ चर्चा के दौरान सुकरात 'न्याय' के विभिन्न पक्षों पर विचार करता है। अंत में वह इस निर्णय पर पहुंचता है कि 'न्याय सदगुण है,' ऐसा गुण जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर रखना चाहिए। उसमें आदर्ष और व्यवहार का भेद मिट जाता है।

अरस्तु के अनुसार संवैधानिक शासन की तीन प्रमुख विषेषताएं हैं– पहला संवैधानिक शासन का प्रमुख ध्येय जनकल्याण होता है। वह किसी एक व्यक्ति अथवा समूह के भले के लिए काम करें, दूसरा – संवैधानिक शासन विधिसम्भत शासन होता है। वह किसी व्यक्ति अथवा समूह की मर्जी से संचालित नहीं होता, बल्कि ऐसे कानूनों के माध्यम से शासन–कर्म करता है, जिनको शासित वर्गों की सहमति प्राप्त हो। वह समन्वयवादी भी होता है। प्राचीन रूढियों, रीति–रिवाजों और परंपरा का तिरष्कार करने के बजाय वह उनके साथ तालमेल बनाकर चलने में विष्वास रखता है। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह इच्छुक नागरिकों का शासन है।

अरस्तु का दर्षन व्यवहारिकता के निकट है। दोनो के विचारों के अंतर को इससे भी समझा जा सकता है कि अरस्तु जिसे आदर्ष राज्य मानता है। प्लेटो के निगाह में वह द्वितीय सर्वश्रेष्ट राज्य है। जबकि प्लेटो की आदर्ष राज्य संबंधी संकल्पना अरस्तु की निगाह में अव्यावहारिक है। अरस्तु के समय तक विभिन्न राजनीतिक दर्षन सामने आ चुके थे। उसने अपने समय के सभी प्रचलित शासन–तंत्रों तथा राजषाही, गणतंत्र, निरंकुष शासन, कुलीन तंत्र, सौम्य प्रजातंत्र, भीड़ के शासन को उसने निकृष्ट शासन पद्वति माना था। बाकी के बारे में उसका विचार था कि प्रत्येक प्रणाली की कुछ न कुछ दुर्बलताएं है। राज्य के आदर्ष को नागरिक और शासन के कुषल तालमेल से ही प्राप्त किया जा सकता है इसके लिए उसने लिखित संवैधानिक व्यवस्थाओं पर जोर दिया था। वह शासन पर नागरिकों की जीवनषैली मानता था। उसका विचार था कि राज्य अपने लक्ष्य में तभी सफल हो सकता है, जब उसे अपने नागरिकों का समर्थन प्राप्त हो।

ईसा से पांच–छह शताब्दी वर्ष पहले का समय राजनीतिक दर्षनों के विकास का दौर था। बड़े राज्यों के गठन का सिलसिला आरंभ नहीं हुआ था और छोटे राज्य जिन्हें नगर राज्य भी कहा जा सकता है, धर्म की जकड़बही से बाहर थे, असल में वह दुनिया–भर में बौद्धिक जागरण का समय था। भारत में महावीर स्वामी, अजित केशपंबली, कॉत्स, गौतम बुद्ध, यूनान में सुकरात, प्लेटा, अरस्तु, पेरामेनाडिस, चीन में कन्फ्यूशियस जैसे मानवतावादी चिंतक उसी दौर में जन्में थे। मगध सम्राट, आजातशत्रु द्वारा भेजे गये दूत महामंत्री वस्सकार के समक्ष उन्होंने गणतंत्रों का समर्थन किया था। जाहिर है उस समय तक राजनीति और दर्शन दोनों के केन्द्र में मनुष्य था। गौतम बुद्ध द्वारा गणतांत्रिक संघों की प्रशंसा, महावीर स्वामी का किसी भी प्रकार की हिंसा से बचने का संदेश, सुकरात का 'शुभत्व' एवं 'सदगुण' का विचार, प्लेटो की आदर्ष राज्य की संकल्पना, अरस्तु का व्यावहारिक नैतिकता के आधार पर राज्यों के गठन का सुझाव तथा कन्फ्यूशियस की नैतिक शिक्षाएँ अलग–अलग दिखने के बावजूद ये परस्पर मिली–जूली एक–दूसरे का पर्याय कही जानेवाली धाराएँ थी। उस दौर

Received 10 July 2026; Accepted 27 July 2026. Available online: 30 July. Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License

Integral Research
(ISSN: 3048-5991) Coden: IRABCA
Research Article
(Peer-reviewed, Open Access & Indexed Multidisciplinary Journal)
Journal home page: https://integralresearch.in/
Vol. 03, No. 07, July. 2026

में जब सारे कामकाज ईश्वर तथा अन्य देवताओं के नाम पर किए जाते हों– मानव कल्याण को राज्य के गठन का औचित्य बताना बड़ी बात थी। इस आधार पर हम उस कालखंड को हम मानव इतिहास का सबसे परिवर्तनकारी दौर भी कह सकते हैं। उस समय तक साम्राज्यवाद भी महज एक अवधारणा तक सीमित था। हालांकि राजाओं की महत्वकाक्षाएँ नजर आने लगी थी। रामायण और महाभारत को ईसा से 880–1500 ईस्वी पूर्व की रचना माना जाता है। दोनों में साम्राज्यवाद को जगह मिली है, 'सम्राट' 'विराट', 'चक्रवर्ती' जैसी संज्ञाएँ साम्राज्यवादी भावनाओं की देन है, मगर अपने आदि स्वरूप में ये दोनों महाकाव्यों से प्रेरित है, जिनके कथानक नगर राज्यों के संघर्ष की कल्पना के आधार पर रचे गये थे।

दोनों महाकाव्य आज जिस रूप में मौजूद हैं, वह मात्र 2000–2200 वर्ष पुराना है, इस बीच उनमें इतना ज्यादा प्रेक्षपण हुआ है कि मूल रचना और वर्तमान स्वरूप में अंतर कर पाना ससंभव हो चुका है, दरअसल इन महाकाव्यों को उनके वर्तमान रूप तक आते–आते अनके सामाजिक–राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से गुजरना पड़ा है, उनके कथ्य और कथानक दोनों ही में समयानुसार बदलाव होते रहे हैं, जिस कालखंड की हम बात कर रहे हैं, उसमें धर्म और राजनीति का वैसा, मूल्यविहीन गठजोड़नहीं हुआ था। जैसा परिवर्ती शताब्दियों में देखने को मिलता है, उस दौर धर्म सामान्य नैतिकता से जुड़ा हुआ था। इस कारण वह समाज और राजनीति दोनों का मार्गदर्शक बना था। मगर बुद्ध के रहते साम्राज्यवाद को पर्याप्त जमीन न मिल सकती थी, किन्तु उनके निधन के एक शताब्दी बाद ही भारत में साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ जोर पकड़ने लगी थी। उससे समूची व्यवस्था केंन्द्राभिमुखी हो गई। महाकाव्यों के बहाने धार्मिक–राजनीतिक साम्राज्यवाद का महिमामंडन किया जाने लगा। उसका असर न्याय पर भी पड़ता था। प्रकृति आधारित जीवन में समाज में पर्याप्त समानता थी। लेकिन केन्द्र के मजबूत होने से अभिजन वर्ग तेजी से मजबूत होने लगा था। परिणामस्वरूप वे संस्थान जिनकी जिम्मेदारी समाज में न्याय का संवितरण करने की थी, कुछ शीर्षस्थ लोगों की मनमर्जी से चलने लगे, इससे उनको नीतियाँ और कार्यशैली भी अभिजनोन्मुखी होती गई। इस केन्द्रवाद के विरुद्ध समय–समय पर आवाजें भी उठती रहीं। यत्किचिंत सफलता मिली, मगर हालात कुल मिलाकर अभिजात वर्ग के पक्ष में ही बने रहे। (आखरमाला 21 नवम्बर 2015)3

गत्यात्क जनसंस्कृति सह समावेशी आधुनिकताः–

संत रविदास जी ने कहा था– ऐसा चाहूँ राज मैं यहाँ मिले सभन को अन्न छोटे–बड़े सभ सम्म बसे, रविदास रहे प्रसन्न–जनसंस्कृति का अभिप्राय आधुनिकता से पलायन नहीं है, न उन अतिरेकी मान्यताओं को महत्व देना है जिनके अनुसार जो पुराना तथा पीढ़ी दर–पीढ़ी चला आ रहा है अथवा जिसे बहुसंख्यक माने वही सर्वदा वरेण्य है, न यह दर्शाना है कि पिछला समय ही श्रेष्ठ था और अब यह पूरा समाज पतनशील अवस्था में निरंतर सांस्कृतिक अपसंस्करण की ओर बढ़ रहा है। इसमें भारतीय समाज के आगे जो अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता पर गर्व करते आया है। कोई बड़ा संकट खड़ा होने वाला है। सच तो यह है कि पिछली संस्कृतियों की भांति आधुनिक संस्कृति में भी बहुत कुछ श्रेष्ठ हैं। इसमें अगर कुछ कमियाँ हैं तो परंपरागत संस्कृतियाँ भी सर्वदा दोषमुक्त नहीं थी। यह भी भ्रांति ही है कि भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठतम छटा गाँवों में देखने को मिलती है तथा वैज्ञानिक क्रांति एवं प्रौद्योगिकीय विकास के फलस्वरूप विकसति हुई। आधुनिक नगरीय सभ्यता में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं है। सच यह है कि गत चार पाँच हजार वर्षों से मानव–संस्कृतियाँ निरंतर विकासमान अवस्था में रही है। संभव है उन दिनों के समाजों में सकारात्मक तत्वों की उपस्थिति अनुपातिक रूप से ज्यादा हो, शायद इसलिए की तत्कालीन जीवन आज जितना जटिल नहीं था। मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं। उनके अनुपात में प्रकृति का प्रांगण बहुत विशाल था। इंसान संपत्ति–संग्रह की बुरी लत से भी दूर था। इसके बावजूद तत्कालीन समाजों की आपेक्षिक श्रेष्ठता को लेकर कोई भी बात सप्रमाण नहीं कही जा सकती, तब से आजतक राजनीतिक, सामाजिक विचार धाराओं के साथ उत्पादन–प्रविधियों में भी वैश्विक स्तर पर बदलाव आया है, जिसने लोगों के जीवन–शैली और सोच में व्यापक बदलाव किया है। तमाम विवादों और असहयतियों के बावजूद यह विकास की स्वभाविक अवस्था है।

Received 10 July 2026; Accepted 27 July 2026. Available online: 30 July. Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License

Integral Research
(ISSN: 3048-5991) Coden: IRABCA
Research Article
(Peer-reviewed, Open Access & Indexed Multidisciplinary Journal)
Journal home page: https://integralresearch.in/
Vol. 03, No. 07, July. 2026

वर्तमान विश्व सभ्यता और संस्कृति के अनगिनत खानों में बंटा है। उसमें धर्म, राष्ट्रीयता, राजनीति, अर्थनीति आदि को लेकर अनेकानेक भेदे और तज्जनित अंतर्द्वंद्व है। सही मायने में ये आधुनिक असमानताग्रस्त समाज और संस्कृति की विफलताएँ भी है। सभ्यताकरण के दौर में मनुष्य नए और पुराने के बीच चयन को लेकर सैदव ऊहापोह का शिकार रहा है।

सामान्य व्यवहार में प्रायः ग्रामीण संस्कृति को ही जनसंस्कृति का पर्याय मान लिया जाता है, जबकि जन समाज केवल गाँवों तक सीमित नहीं होता है, शहरों में भी जन को जीवन–संघर्ष मे उलझते तथा अभिजन हितों के लिए पसीना बहाते देखा जा सकता है। अपने जीवन में वह प्रायः अभिजन के पक्षपातपूर्ण निर्णयों का शिकार होता है, फिर भी वर्गीय चेतना के अभाव, संगठ की कमी, अपने अज्ञान एवं भ्रांतियों के चलते वह अभिजन का समर्थन करता है। दूसरे शब्दों में अभिजन के श्रेष्ठत्व पर भरोसा करके और यह जानते हुए कि उसकी विकास–दृष्टि स्वार्थ की सीमाएँ लांघने में असमर्थ रहती है, 'जन' उसे खुशी–खुशी अपने ऊपर शासन करने का अधिकार सौंप देता है। ग्रामीण समाज भी भले ही ऊपर से एक दिखे, भीतर से वह भी 'जन' और 'अभिजन' में बँटा होता है। यह भी देखने में आया है कि ग्रामीण अभिजन, शहरी अभिजन की अपेक्षा कहीं अधिक मुखर तथा आक्रमक होते हैं। उनका अभिजात्यबोध धर्म, जाति, कुल–गोत्र, वंशानुक्रम, भूमि–स्वामित्व, सामंती संस्कार जैसे परंपरागत प्रतीकों से प्रकट होता है। पुरोहित,जमींदार, सरकार तथा उसके शीर्षस्थ अधिकारी जो गाँव में बसते अथवा उससे किसी भी प्रकार का संबंध रखते हों 'ग्राम्यः समाज के अभिजन की श्रेणी में आते हैं, शहरी अभिजन की भांति वे भी निर्णयकारी भूमिका में होता है। अपनी पक्षपातपूर्ण कार्यशैली द्वारा वे ग्रामीण जीवन में असमानता और वर्चस्व की स्थापना करते हैं। ग्रामीण अभिजनेत्तर समाज में किसान, मजदूर, हस्तकार, साधारण नौकरीपेशा के लोग आते हैं। उन्हें अभिजन के दिर्नेश अथवा उसकी इच्छा के अनुरूप अपनी जीवनशैली को साधना पड़ता है। (आखरमाला 20 अक्टूबर 2013)4

निष्कर्ष–

उपरोक्त विषय वस्तु के मुख्य बिन्दुओं पर विचार करते हुये कहा जा सकता है कि न्याय शब्द एक ऐसी बहुमूल्य विचार धारा मानव समाज में समाहित है जिसे हर व्यक्ति को मानव सभ्यता के सर्वप्रथम चरण से लेकर अभी तक इस विचार धारा की माँग दैनिक जीवन में रही है। जिसे मानवों के द्वारा किये गये कार्यों को 'नैतिकता' के रूप में देखते हैं और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित दृष्टिकोण के आधार पर उसे समयक विचार धारा पर कार्य करने की प्रेरणा देती है। जिसे भिन्न–भिन्न समाज वैज्ञानिकों ने अपनी–अपनी विचार धारा को उद्भेदित किया है। जिसे आज के आधुनिक परिवेश में, "ग्रामीण भारत में मानव अधिकार एवं सामाजिक न्याय" के रूप में इसकी झलक इसमें प्रस्तुत है, जिसमें इसकी आज भी जरूरत है।

सन्दर्भ–

आखरमाला, न्याय की पाश्चात्य अवधारणा दो, (14 मार्च 2017) omprakashkashyap. wordpress.com

आखरमाला, न्याय की पाश्चात्य अवधारणा, (24 नवम्बर 2017), omprakashkashyap. wordpress.com

आखरमाला, न्याय, न्याय की परंपरा और समाज (24 नवम्बर 2015), omprakashkashyap. wordpress.com

आखरमाला, गत्यात्मक जनसंस्कृति यानी समावेशी आधुनिकता, (20 अक्टूबर 2013), omprakashkashyap. wordpress.com

Received **10 July 2026**; Accepted **27 July 2026**. Available online: **30 July**. Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License